Chapter-2

# अध्याय-2

# आदिकाल : अनुवाद के झरोखे से

2.1 आदिकाल और अनुवाद

## अध्याय-2

## आदिकाल : अनुवाद के झरोखे से

### 2.1 आदिकाल और अनुवाद :

हिन्दी साहित्य का आरंभिक काल आदि काल के नाम से जाना जाता है । हिन्दी भाषा का आरंभ ही हिन्दी साहित्य का आरंभ है । हिन्दी भाषा का विकास जन-भाषा के रूप में हुआ है । देश-काल के भेद के कारण हिन्दी भाषा में रूप भेद उत्पन्न होते हुए भी उन सभी रूपों को अपने आप में शोषित करके विकास यात्रा की ओर एक अक्षुण्ण गति आई है ।

हिन्दी साहित्य के आरंभ की सीमा निश्चित करने में अनेक विद्वानों में मतमतांतर है । इसी तरह कालान्त की सीमा के लिए भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं । डॉ. नगेन्द्र के अनुसार हिन्दी साहित्य का आदिकाल 1000 ई. से लेकर 1500 ई. तक है ।

साहित्य की दृष्टि से देखें तो हिन्दी साहित्य के आदिकाल से पूर्व प्राकृत भाषा में विलासितापूर्ण रचनाएँ रची जाती थीं । जैन, बौद्ध आदि मठों में प्रेम, श्रृंगार और विलासिता के नग्न नृत्य हुआ करते थे । इसका प्रभाव सामान्य जनता और राजदरबारों में भी था । वहाँ भी प्रेम तथा शृंगार के ही गीत लिखे जाते थे । लेकिन संवत 810 से भारत पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे, इसलिए कवियों, चारणों, जनसामान्य आदि के मन में वीरता के भाव जागृत होने लगे । कवि और चारण न केवल कविता ही लिखकर अपना उत्तरदायित्व निभाते थे वरन् वे एक ओर सेना को एकत्र करके वीरगीतों द्वारा उनका स्वागत करते तो दूसरी ओर उन्हें आगे बढ़ने और शत्रु पर विजय पाने की प्रेरणा देते । इस काल के दौरान प्रत्येक स्त्री-पुरूष में वीरता की चिनगारी जल रही थी । हिन्दुत्त्व के पतन की शुरूआत यहीं से हुई । इसलिए इस काल में वीरता और वीरगाथा यही दोनों हिन्दू जनता के उद्धार का आश्रय थीं । इस काल को इसीलिए 'वीरगाथा काल' के नाम से भी अभिहित किया जाता है ।[1]

वीरगाथाएँ भारत की प्राचीन पौराणिक परंपराओं की रक्षा करते हुए लिखी गई हैं । वेद, उपनिषद और पुराणों के प्रति उनमें अपूर्व श्रद्धा है ।[2]

---

1. हिन्दी साहित्य का प्रश्नात्मक इतिहास, जयमूर्तिसिंह 'गौतम' पृ.2,3
2. वही

आदिकाल में हिन्दी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश के साथ-साथ चलती हुई क्रमश: जनभाषा के रूप में साहित्य का माध्यम बन रही थी। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार हिन्दी आठवीं सदी में ही साहित्य का माध्यम बन चुकी थी तथा वह अपभ्रंश भाषा के साथ अपनी भूमि पर विकास भी करने लगी थी। परिणामस्वरूप अपभ्रंश के कवि अवसर पाकर हिन्दी में भी कविता किया करते थे। दोनों भाषाओं में यह स्पर्धा भक्तिकाल के आरंभ तक चलती रही और अंत में एक समय ऐसा आया जब अपभ्रंश का खेमा छोड़कर सभी कवि हिन्दी में रचना रचने लगे।[1]

इस समय एक विशाल क्षेत्र की अनेक बोलियों के सहारे हिन्दी का एक सामान्य रूप विकसित हो रहा था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के शब्दों का कवि अपनी रचनाओं में खुलकर उपयोग करने लगे और उन शब्दों को नए आयाम भी मिलने लगे। यह भाषा कठिनता से सरलता की ओर बहने लगी। आदिकाल में हिन्दी का संस्कृत और संस्कृति की ओर जानेवाला व्यापक स्वरूप पर्याप्त सम्प्रेषणीय था। कवियों ने घिसे-पिटे अर्थों वाले शब्दों को छोड़ दिया। सरल शब्दावली सशक्त होती जा रही थी। उसमें नए पुरुषार्थों तथा नए अनुभवों को व्यंजित करने की शक्ति बड़ी तीव्रता के साथ जन्म ले रही थी। सिद्धों की जीवन-दृष्टि तथा स्पष्टवादिता; नाथपंथियों का हठयोग, जैनों की अहिंसा, चारणों-भाटों की प्रशस्तियाँ, खुसरो की लोकानुरंजनता - सबको एक साथ व्यक्त करने का सामर्थ्य जुटाने में तल्लीन हिन्दी भाषा न तो अलंकार की ही चिंता करती थी और न ही लक्षणा-व्यंजना की ही। ये सब साधन सहज ही उसके अनुवर्ती होते जा रहे थे। इस तरह हिन्दी अपने विकास को ही लक्ष्य में रखकर जनभाषायी प्रवृति करती जा रही थी।

डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि आदिकाल में साहित्य रचना की तीन धाराएँ बह रही थीं। प्रथम धारा संस्कृत साहित्य की थी, दूसरी धारा प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखे गए साहित्य की और तीसरी धारा हिन्दी भाषा में लिखे जानेवाले साहित्य की थी। संस्कृत प्रधानत: राज प्रवृत्ति को सूचित करती थी, अपभ्रंश भाषा धर्म की भाषा बन गई थी तथा हिन्दी जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रही थी। संस्कृत के कवियों एवं लेखकों को तत्कालीन परिस्थितियाँ अधिक प्रभावित नहीं करती थीं। वे काव्य,

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ.80

शास्त्र, ज्ञान विज्ञान आदि की रचनाओं में ही अपनी रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग कर रहे थे । प्राकृत एवं अपभ्रंश के कवि धर्म के प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य तो उनकी रचनाओं का सहायक अंग था । केवल हिन्दी ही इस काल ऐसी भाषा थी जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव एवं प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मुखर हो रही थी ।[1]

भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य संस्कृत की अपेक्षा अधिक निकट होने के कारण हिन्दी साहित्य के समान्तर एवं साथ-साथ चल रहा था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अपभ्रंश-काल' में अपभ्रंश और 'आरंभिक हिन्दी' की रचनाएँ सम्मिलित कर ली हैं परन्तु नई खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि उनमें से कुछ रचनाएँ आरंभिक हिन्दी साहित्य में आती हैं और अन्य को अपभ्रंश साहित्य के अंतर्गत रखा जाना ही उचित है । डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, घाहिल, कनकामर, अब्दुल रहमान, जिनदत्तसूरि, जोइन्दु, रामसिंह, लक्ष्मीचन्द या देवसेन, लुई तथा सिद्ध कवि भुसुक, किलपाद दीपंकर, श्रीज्ञान, कृष्णाचार्य, धर्मपाद, टेंटया, महीधर तथा कम्बलांबरपाद को अपभ्रंश का कवि मानते हैं ।[2]

'महापुराण' में पुष्पदन्त ने प्राकृतिक सौंदर्य का अत्यंत निकट से साक्षात्कार किया है । इस ग्रंथ की भाषा में स्पष्टतः हिन्दी भाषा के अंकुर दबे हुए दिखाई देते हैं : एक पंक्ति

पडु तडि-वडण पडिय बियडायल
    रुज्जिय सीह दाउणो ।
णच्चिय मत्त मोर कल-कल-रव
    पूरिय सयल काणणो ।। (2/13)

डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार आदिकालीन हिन्दी साहित्य दो रूप में उपलब्ध था : एक अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी साहित्य और दूसरा अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त । सिद्ध-साहित्य, श्रावकाचार, नाथसाहित्य, राउलवेल (गद्य-पद्य), उक्ति व्यक्ति प्रकरण (गद्य), भरतेश्वरबाहुबलीरास, हम्मीररासो, वर्णरत्नाकर आदि को उन्होंने अपभ्रंश से प्रभावित माना है । जबकि खुमाण रासो, ढोला मारू रा दूहा, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, जयचन्द्र-प्रकाश,

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ.58,59
2. वही ।

जयमयंक-जसचंद्रिका, चन्दनबाला रास, स्थूलिभद्ररास, रेवन्तगिरि रास, नेमिनाथरास, वसन्त विलास, खुसरो की पहेलियाँ आदि को अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिन्दी रचना माना है ।[1]

सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने हेतु जनभाषा में जो साहित्य लिखा वह हिन्दी के सिद्ध साहित्य के अंतर्गत आता है । राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है जिनमें सरहपा (जो सरहपाद, सरोजवज्र, राहुलभद्र, आदि कई नामों से जाने जाते हैं) कृत 'दोहाकोश' हिन्दी की रचनाओं में सुविदित है । शबरों का-सा जीवन व्यतित करने के कारण जिन्हें शबरपा कहा जाने लगा, वे शबरपा के सरहपा के शिष्य थे । शबरपा की 'चर्यापद' पुस्तक हिन्दी में प्रसिद्ध है । डोम्भिपा द्वारा रचित इक्कीस ग्रंथों में से 'डोम्बी-गीतिका', योगचर्या, अक्षरद्विकोपदेश आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं । इनके अलावा लुइपा कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध-कवियों ने हिन्दी साहित्य में कविता की जो प्रवृत्तियाँ आरंभ की उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा ।

पूर्वीक्षेत्र में जिस प्रकार सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्रचार हिन्दी-कविता के माध्यम से किया, उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने भी अपने मत का प्रचार हिन्दी कविता के माध्यम से किया । जैन-साहित्य में 'श्रावकाचार', भरतेश्वर-बाहुबली रास, चन्दनवाला रास, स्थूलिभद्ररास, रेवंतगिरिरास, नेमिनाथरास आदि की रचनाएँ अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी में हैं । जैन-साहित्य के बाद नाथ-पंथ को राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों की परंपरा का ही विकसित रूप माना है । सिद्धपंथी मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने नाथपंथ की स्थापना की थी । नाथ-साहित्य के विकास में गोरखनाथ कृत - सबदी, पद, प्राण, संकली, सिष्यादरसन, नरवै, बोध, अभैमात्रा जोग, आतमबोध, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र गोरखबोध, रोमावली, ग्यानतिलक, ग्यानचौंतीसा एवं पंचमात्रा आदि के अलावा चौरंगीनाथ, गोपीचंद, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्ध्रीपाव आदि कवियों की रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं ।[2]

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रचित जैन 'रास-काव्य' वीरगाथाओं के

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ.61
2. वही, पृ.67,68

रूप में लिखित रासो-काव्यों से अलग है । इन दोनों की रचना-शैलियों का विभिन्न-भूमियों पर विकास हुआ है । जैन रास काव्यों में धार्मिक दृष्टि से प्रधान होने से वर्णन की वह पद्धति प्रयुक्त नहीं हुई, जो वीरगाथापरक रासो-ग्रंथों में मिलती है । इन काव्यों की विषयवस्तु का मूल संबंध राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है । परिणाम स्वरूप इनका आकार रचनाकारों की मृत्यु के बाद भी बढ़ता रहा है । रासो काव्यों के रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजा अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करवा देते थे । अतः इन ग्रंथों में मध्यकाल के राजाओं का भी वर्णन मिलता है तथा भाषा में भी उत्तरवर्ती भाषा रूपों की झलक पाई जाती है । कुछ वृत्त संग्रहकर्ताओं ने अधिकांश रासो-काव्यों को इन्हीं कारणों से अप्रामाणिक रचनाएँ माना है । भाषावैज्ञानिकों का भी उन्हें समर्थन मिल गया है । परंतु इतिहास के मर्म को समझनेवाले विद्वान उन वृत्त संग्राहकों के कथनों को बेबुनियाद मानते हैं क्योंकि रासों-काव्यों की रचना आदिकाल में ही हुई थी यही सत्य है । उनमें जो अंश उत्तरवर्ती राजाओं से संबंधित है वे प्रक्षिप्त हैं । इसी मान्यता के आधार पर हम रासो काव्यों को आदिकाल का साहित्य मानते हैं । इन रासो-काव्यों में सुमाण रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, परमाल रासो, पृथ्वीराज रासो आदि की गिनती की जाती है ।[1]

इसके अलावा हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लौकिक साहित्य भी खूब प्रचलित हो रहा था । इन लौकिक साहित्य की रचनाओं में 'ढोला मारु रा दूहा', जयचंद प्रकाश और जयमयंक, 'जसचंद्रिका', 'वसंत विलास', 'खुसरो की पहेलियाँ' आदि सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं । आदिकाल में काव्यरचना के साथ-साथ गद्य रचना की दिशा में भी कुछ स्फुट प्रयत्न लक्षित होते हैं इनमें 'राउलवेल (चम्पू)', 'उक्तिव्यक्ति प्रकरण' और 'वर्णनरत्नाकर' आदि उल्लेखनीय हैं ।

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की इस प्रवृत्ति के मध्य जैसे-जैसे समाज परिवर्तन की ओर अग्रसित होता गया, नए-नए भाव, नए-नए भाषायी रूपों की माँग बढ़ती गई । चूँकि अनुवाद बहते समय की आवश्यकता है । फिर भी प्राचीन भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में न तो कोई अनूदित साहित्य मिलता है और न ही किसी को अनुवाद के प्रति कोई रुचि । डॉ. भोलानाथ तिवारी का मानना है कि "प्राचीन भारतीय साहित्य

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ.70

P/Th
1458

में अनूदित ग्रंथ नहीं मिलते हैं ।"[1] अत: हिन्दी साहित्य के आदिकाल में आधुनिक संदर्भ में अनुवाद जैसी कोई संकल्पना नहीं पनपी थी । डॉ. राम गोपाल सिंह के मतानुसार संस्कृत भाषा में ही नहीं बल्कि पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में भी न तो अनूदित साहित्य ही देखने को मिलता है और न ही किसी भी रूप में 'अनुवाद विधा' के दर्शन ही होते हैं ।[2] इसी कारण से हिन्दी साहित्य के आविर्भाव के समय न तो कोई साहित्यकार अनुवाद प्रक्रिया को जानता ही था और न ही 'अनुवाद विधा' को । किन्तु डॉ. राम गोपाल सिंह के मतानुसार "अनुवाद की परंपरा हिन्दी साहित्य के आरंभ में सुव्यवस्थित रूप से देखने को नहीं मिलती लेकिन शनैः शनैः अनुवाद परंपरा के व्यवस्थित सूत्र हाथ लगने लगते हैं तथा अनूदित ग्रंथ एवं अनुवाद परंपरा का धरातल बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से आगे पुष्पित-पल्लवित होता दिखाई देता है ।"[3]

हिन्दी साहित्य के आदिकाल के संदर्भ में काल के अंत्य भाग में अनुवाद की परंपरा थोड़ी-सी देखने मिलती है । परंतु आदिकालीन साहित्यकारों ने संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य का छायानुवाद अपनी रचनाओं में किया । इन साहित्यकारों ने कहीं भी अपने छायानुवाद की घोषणा नहीं की । जब एक ही तथ्य पूर्वावर परंपरा में अलग-अलग काल एवं संदर्भ के कवियों के साहित्य में यत्किंचित परिवर्तन के साथ मिलता हो तो वहाँ परवर्ती साहित्यकार के पूर्ववर्ती साहित्यकार से भाव ग्रहण करने की बात को नकारा नहीं जा सकता । अर्थ या भाव की छाया हिन्दी के कवियों में यत्र-तत्र देखने को मिल जाती है ।

डॉ. राम गोपाल सिंह के अनुसार हिन्दी साहित्य के आदिकाल में विद्यापति की रचनाओं में छायानुवाद देखने मिलता है । भागवत्कार व्यास, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, अमरु तथा जयदेव आदि अनेक साहित्यकारों के विविध भावों के समान भाव विद्यापति की रचनाओं में देखने मिलते हैं । अनेक पदांशों में यह भाव-साम्य अनुवाद या छायानुवाद की सीमा तक पहुँच जाता दिखाई देता है । यथा:

**शृंगारतिलक:** तवमुखमकलंक वीक्ष्य नूनं स राहु,
ग्रसति तव मुखेंदु पूर्णचंद्रं विहाय ।

---

1. अनुवाद विज्ञान, डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ.203
2. वही, पृ.245
3. वही

विद्यापति : लोलुअ बदन सिरि धनि तोरि
जनुलागहि तो हि चाँदक चोरि ।
दरसि हलह जनु हेरहु काहु
चाँद भरम मुख गरसत राहु ।

मम्मट : नीवीप्रति प्राणहिते तु करे प्रियेण
सख्य शयामि यदि किंचिदपि स्मरामि ।

विद्यापति : जब निबि बध खसाओल कान
तोहर सपथ हम किछु जदि जान ।[1]

संस्कृत में विद्यमान नीतिकाव्यों की विशाल परंपरा से आकर्षित होकर हिन्दी में भी नीति काव्य की ओर कवि प्रेरित हुए । डॉ. विनीता के अनुसार हिन्दी साहित्य के विकासक्रम की दृष्टि से देखा जाए तो आदिकालीन साहित्य विशुद्ध नीतिग्रंथों से शून्य प्रतीत होता है ।[2] डॉ. देवेन्द्रकुमार का मानना है कि संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों का आरंभ हिन्दी साहित्य के इतिहास के आदिकाल से मिलता है । सबसे पहली अनुवाद रचना 1544 ई. में की गई थी । यह रचना संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद है जो मल्ह कवि का किया हुआ है ।[3]

इस प्रकार आदिकाल के हिन्दी साहित्य में पूर्ण अनूदित रचना या जिसे आज के संदर्भ में अनुवाद कह सकें ऐसी कोई रचना नहीं रची गई । फिर भी आदिकाल का हिन्दी साहित्य अनुवाद नामक तत्त्व से बिलकुल ही अनभिज्ञ नहीं था । कहीं-कहीं छायानुवाद तो देखने मिलता है । हालाँकि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में हुए अनुवादों को अनुवादकों ने 'अनुवाद' करार नहीं दिया था । हिन्दी साहित्य के आदिकाल के पश्चात् मध्यकाल में अनुवाद की सुव्यवस्थित परंपरा विकसित हुई ।

---

1. अनुवाद विज्ञान : स्वरूप और समस्याएँ, डॉ. राम गोपाल सिंह, पृ.245, 246
2. अनुवाद, जुलाई-दिसंबर 1998, में डॉ. विनीता का लेख संस्कृत नीति साहित्य के हिन्दी अनुवादक, पृ.1
3. संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद, डॉ. देवेन्द्रकुमार, पृ.97